शान्ति सुमन का 'ओ प्रतीक्षित' : आत्मदान के अभिषेक में नवगीत

❑ राजेन्द्र प्रसाद सिंह

अपनी नवगीत-कृति 'ओ प्रतीक्षित' में 'पुरोवचन के बहाने' कवयित्री शान्ति सुमन ने कुछ ध्यातव्य विचार भी प्रस्तुत किये हैं। पहले द्रष्टव्य है कि उन विचारों के यत्किंचित् प्रकाश में किस मान्यता की दिशा कितनी दूरी तक उजागर हुई है; फिर रचनाओं की परख करें। उनके अनुसार कुछ कहने की बाध्यता, अपनी रचनाओं के प्रसंग में, यही है कि युगीन जटिलताओं में 'खंडित व्यक्तित्व, टूटे कुटुम्ब एवं तन-मन के प्रकारान्तर के सन्दर्भ में आत्मस्वीकारोक्ति सम्प्रेष्य हो जाती है।' कहने की बाध्यता का कारण यदि आत्मस्वीकारोक्ति का सम्प्रेष्य हो जाना है, – तो यही कारण रचना की बाध्यता का भी होगा, शान्ति सुमन के लिए, – ऐसा लगता है। इस सम्प्रेष्य यानी आत्मस्वीकारोक्ति के केन्द्र में कैसा बोध और अनुभव है, – कुछ संकेतों से समझा जा सकता है। शान्ति सुमन के शब्दों में 'मन ही ऐसा मिला है कि अवसाद का एक घना कुहासा इर्द-गिर्द व्यापा ही रहता है', ...और –'संस्कारतः सोचना ही पड़ता है कि परेशानियाँ ही तो हमारी सहयोगिनी हैं', ...और –'सुख के क्षण क्षेपक या फुटनोट की तरह ही आते हैं', ...और फिर भी 'आवश्यकता है, अपने आप में दुर्दमनीय जिजीविषा को जाग्रत कर उसे अपराजेय बना देने की। एकान्त निजता का मोह वहन कर भी सदैव ही हुआ कि निजी दुखदर्द को भीतर दफन कर पुलक के गीत ही गाई, पर बर्फ के ओठों पर एक रक्त रेखा की तरह नैराश्य का भाव मुखर ही रहा।' –कवयित्री के ये संकेतक शब्द उसके सम्प्रेषणीय आत्म-स्वीकार का मूलभूत द्रव्य उपस्थित कर देते हैं – मनोजात अवसाद और परेशानियों से समझौता कर, किंचित् सुखानुभूति से भी जिजीविषा की अदम्यता के लिए, निजी दुख-दर्द का पुलकान्तर। सवाल उठता है कि प्रस्तुत नवगीतों में क्या इसी मूलभूत द्रव्य की ध्वनि मिलती है ? शायद इतने की ही नहीं, पूरे मनःसंघर्ष को, जो कवयित्री के शब्दों में उसके – 'जीवन का सच है' और उसके 'गीतों का भी सच बनते-बनते, जानें, क्या हो गया है।' –तो क्या हो गया है, यह जानना होगा। जीवन का सच, –गीतों का सच बनते-बनते क्या हो जाता है या फिर क्या रह जाता है– अव्यक्त सच का सम्प्रेषित और असम्प्रेष्य भाग ? हाँ, जो हो जाता है, उस पर फिर कभी बातें हों, अभी यह देखा जाए कि प्रस्तुत गीतों में जीवन का सच क्या हो गया है ? जाहिर है, जीवन का सच आधुनिक बोध की चौहद्दी में उपस्थित है, इसीलिए शान्ति सुमन के शब्दों में – 'मध्यवर्गीय भाव-चेतनाओं का उतार-चढ़ाव', ...धरती की बातों से धरती की गंध' ...न केवल मध्यवर्गीय ऊब, कुंठा,

घुटन, पीड़न, विवशता एवं शैथिल्य है अपितु हृदय और बुद्धि का असामंजस्य, व्यवहार एवं आदर्श का वैषम्य एवं टुकड़े-टुकड़े होकर बँटे व्यक्ति के बाहरी दबाव भी' – वे तत्त्व हैं, जो जीवन के सच से कहीं संयुक्त, कहीं कटे हुए, कहीं स्थानान्तरित, कहीं बहुगुणित, कहीं सविकल्प गृहीत और सर्वत्र सापेक्ष हो रहे हैं। **जब तक जीवन का सच इन पारिवेशिक तत्वों के केन्द्रण और बलाघात से संश्लिष्ट और अटूट नहीं हो जाता, तब तक उसकी अवस्था और अभिव्यक्ति में एक प्रकार का बिखराव रहता है, जिसे कवयित्री ने – 'आधुनिक युग की ही एक स्थिति' माना है, संभवतः विघटन के अर्थ में, या डिस्टार्शन के अभिप्राय से, किन्तु बिखराव जीवन के और गीतों के उपस्थापित सच में ही सहज ही उतर आया है, –समय, बोध, स्वभाव और परिवेश की मध्यवर्गीय ग्रहणशीलता के द्वारा, –यही हुआ है।** प्रस्तुत गीतों में जो कुछ असम्प्रेष्य रह गया है, उसकी ध्वनि कहीं नहीं है, जो सम्प्रेषित है, उसमें अव्यक्त सच का सर्वाधिक उत्तेजक भाग वय और बोध के सीमानुपात में बड़ी प्रभावशालिता से प्रकट किया गया है।

'ओ प्रतीक्षित' का पहला गीत शायद इसीलिए पहला है कि जीवन के पिछले अनुभवों का सम्मिलित प्रभाव जो बदल गया है, –इस गीत में पूर्व-सूचना से ज्ञात होता है, –'अब चाँदनी टटकी नहीं लगती, सब कुछ वैसी ही, वैसी नहीं लगती' –तभी मैं कृतित्व की दृष्टि से दूसरे गीत को ही पहला मानकर चलूँगा। भारतीय परिवेश की आधुनिकता आकांक्षाओं में ही अधिक रहती है, फिर मध्यवर्गीय जीवन में युक्ति-संगति और विवशता का एक और 'किन्तु' लगा ही रहता है, –'डबके स्याही-सा अन्धकार-बुद्धिजीवी, मसिजीवी परिवार के घरों में है, जिसमें 'उदास चेहरे धँसे' हैं और 'मायूसी के आलम पर खुशियों का ही प्रचार' –मात्र होता है, जिसमें जिया हुआ वैयक्तिक यथार्थ सामाजिक यथार्थ के साथ दीर्घव्यापी तनाव में सक्रिय है। जहाँ आत्मदान के प्रथम अभिषेक का – 'एक बादल बरसता रहा और धुलती गई वासना' –सहज फल है, –वहीं पहले वसन्त की मिठास भी नयी सद्यस्कता लिये, स्वभाव में लौट आती है। होड़ करता हुआ, अपनी सीमाओं का बोध भी लौट आता है – 'मुट्ठी भर रेत-सी रिसती इच्छाएँ-एक बँध जाता कितने क्रम तोड़' –और आहत सन्तोष एक विराम बन जाता है, –'वह भी होना था, –यह भी होना है।' सम्बन्धों के प्रतिनिधि, जो संस्कार के भागीदार बनकर बड़े दावे करते हैं, वे तमाशबीन के अलावा कुछ साबित नहीं होते, जिनमें नितान्त व्यावसायिकता भरी होती है – इस कटुता का भोगी कोई भी समव्यथी इस अतीत भोग की मनस्थिति में आ जाता है –'तभी कितने जी गए सुख, दुख गए होंगे।' –फिर भी 'राह जहाँ तक संग जायेगी, होंगे नहीं विमन' –कहकर दिल को सँभालना पड़ता ही है। तब

वह बार-बार सोचता है – ऊब, कुंठा, परायापन, –सभी से दरकिनार हो –'छोड़ो घने तनाव, उलझनें भी रिस जाएँ, – क्या कर डालूँ तुम्हें कि जी हलका हो जाए।' 'क्या करे कोई वैसे सन्दर्भजीवी क्षणों में अपने समव्यथी का', –जब 'बर्फ के ओठों पर रक्त उतर आया है' और 'भूले सम्बन्धों का सूत्र निखर आया है।' वहीं जिजीविषा के लिए आत्मदान का दूसरा अभिषेक फलीभूत होता है।

आत्मदान का दूसरा अभिषेक : एक दृश्य; एक उपक्रम, एक मनोमिश्रण की कलात्मक सुरुचि और सम्बन्ध-लीला का गहरा अन्तर्वाह्यव्यापी यथार्थ है, जो उस संवेगात्मक और फिर भी संवेद्य आवर्त्त में जिया गया है, जिसमें 'जूड़े को खोल रहा चाँद', 'जेठ बहुत कम लगता, माघ बहुत तेज', 'दर्द मेरे, दर्द तेरे ओढ़े मौसम दुहरा', 'गंध भटकाती रही हर द्वार, सारी रात, सारी रात, स्वयं मन की तृप्तिओं के लिए', 'आँखों में आंजली थोड़ी गलतफहमी, खूबसूरत भूलों के जीने में क्या कमी', 'बँधे हुए आँचल में साँसों के शोर, क्षमा कैसे बाँधू', 'नामहीन पत्थर को तोड़ दिया, किसी स्वीकृत क्षण ने तुमको मुझसे जोड़ दिया' और 'कुछ देर यों ही आस-पास हो लें, मन है, आकाश हो लें' –वैसी अभिव्यक्तियाँ जुड़ी हुई हैं, जिनका आस्वादन कोई स्मृति के माध्यम से, कोई प्रत्याभिज्ञान से और कोई परिकल्पना से कर सकता है। आत्मदान के इस दूसरे अभिषेक से वैयक्तिक यथार्थ का बोध परिवेश से बहुत कुछ कट गया है, जो स्वाभाविक है किन्तु इसका दूसरा पक्ष भी स्वाभाविक है कि पारिवेशिक बोध आत्मप्रसंग के पूरक की तरह अलग से तीव्र हो उठा है, क्योंकि ग्रहणशीलता जब संवेगात्मक और संवेद्य अनुभवों से सतेज और सशक्त हो जाती है, तब एक प्रकरण का अन्त ही दूसरे प्रकरण का आरम्भ हो जाता है, भले ही प्रतिकूलता या विपर्यय हो या स्वानुभूति के बाद नगर-बोध की दिशा हो। वही हुआ है, पृष्ठ 39 से पृष्ठ 54 तक प्रस्तुत सारे गीत अपनी वस्तु या निधि में, प्रेरणा या भोग में, प्रतिक्रिया या प्रतिन्यास में नगर-बोध से जुड़े हैं। इन गीतों को नगर-बोध ने क्या दिया है ? देखें-संगदिली के संबंधों से प्रतीकित यह पत्थरों का शहर है, जहाँ 'धुएं के छल्लों-सा जीना नाकाम' लगता है, व्यावसायिक दृष्टि ऐसी है कि 'चाय पिला जोड़ें सब चीनी के दाम।' हम सामूहिक व्यवस्था के जिस नियंत्रित जुलूस में चले जा रहे हैं उसमें ऐसी आत्मवंचना है कि 'दबा-दबा मन का विद्रोह', 'इधर-इधर से लेकर घूस' और एकान्त में लगता है –'आंखों में चूर-चूर एक शीशा, बदनसीब का और क्या किस्सा' दरअसल मन ने भी शहरी जीवन में व्यक्तित्व पर 'कुछ भूखी बहस, जुलूस सतही, चर्चाओं के टाँके-सिले पहर मनहूस' ही प्रक्षेपित किये। इस आंतरिक प्रक्षेप की त्रासदी के सहज फलाफलों में अकेलापन, बासीपन, बोझिलपन, अजनबीपन, परायापन, सूनापन-यानी बचपन की संकुलता के कन्ट्रास्ट में कितने ही खालीपन के विवर्त

मिलते हैं। आत्मवंचना की दूसरी स्थिति है – 'जितना धोया कुंठाओं का तन, खला उतना ही नया बासीपन।' तभी एक उमस भरा प्रश्न उठा है – 'कहाँ छोड़ दूँ खाली मन का विद्रोह' – **इस समूचे प्रक्षेप की एक अपूर्व बिम्बात्मक अभिव्यक्ति हुई है – 'बदहवास भाग रहीं इच्छाएँ, धूल-भरे आँखों के ताल, नीचे पथरायी ढेर-सी मछलियाँ, ऊपर खिंचे मेहराबी जाल।' ऐसी ही अभिव्यक्तियाँ रचना प्रक्रिया के सुपरिचित फल-सी नवगीत की शक्ति बढ़ा सकती हैं।** नगर-बोध के ही मध्यवर्गीय संदर्भ में –'वही नम बरसात, खुशफहमी के आसार, फटी कमीज पर आलपिन' का चित्र और भी मार्मिक हो उठता है, जब दुहरे-तिहरे यथार्थ की तहें उभरती हैं – 'नकली चेहरों को जीती सड़कें, कर्जों के सूरज उग आते तड़के, वही निर्मम घात, उतरती-चढ़ती जिम्मेवारी, बेकार मक्खियों की भिन-भिन।' नगर-बोध के इसी भावात्मक विराम पर फिर जिजीविषा की पुकार जगती-सी लगती है और उसके पहले, उसकी भूमिका में ही एक वैयक्तिक सामूहिक समाहार को आगे बढ़ानेवाला निष्कर्ष आता है –'माँगा जब मैंने यथार्थ देने को था तब आदर्श, –परिवेशों में घिरे हम तुम-खोजो, जो मिल जाए हर्ष।' तभी हर्ष की सापेक्ष और फिर भी नयी खोज की भूमिका शुरू होती है अनजाने, अनचाहे, अनियोजित। जिजीविषा पिछली मंजिलों के प्रतीक पुरुष को सम्बोधित कर कहने लगी – 'एक विराट् हिमालय रखकर, पीड़ा के सब आवेगों पर कभी न लेकर नाम तुम्हारा – मैं जी लूंगी।' जीने और जीते रहने की इस कठकरेज निष्ठा को अनुभूति-पिपासा के अभाव में परवान चढ़ाना नामुमकिन है। वह पिपासा सुदीर्घ और पूर्वागत स्मृति-रेखा की वेदनामयी खुराक के विपरीत 'एक सहज जीवन जी लेने का क्षण भर' की लालसा पूरी होने से भी यदि बुझ नहीं सकती तो जीवित रह सकती है, क्योंकि जाहिर है – 'रेंगता दिन, ऊँघती, शाम, भागती इच्छाएँ बेकाम, – यों जीने से क्या फायदा ? फिर सामूहिक यथार्थ और उसका व्यक्तिगत प्रक्षेप नगर-बोध के संदर्भ से छनकर वैयक्तिक यथार्थ में घिरी जिजीविषा को प्राणवान करने की दिशा में पर्यवसित होता है और आत्मदान के तीसरे अभिषेक की चरितार्थता व्यक्त होने लगती है।

आत्मदान का तीसरा अभिषेक : शरीर, मन, संबंध, परिवेश और मूल्य-धारणा का विशिष्ट संश्लेष है जिसमें 'ओ प्रतीक्षित' की चिरागत प्रतीक्षा उपलब्धि के इस नये रहस्य से गुजर चुकी है कि वह होती नहीं, की जाती है, – निष्ठापूर्ण आरोप के द्वारा भी, तभी प्रतीक्षा सीधी राह से कटकर सवाल करती है – 'वादे कल-परसों के रूठे रहे सारी रात, पिया कहाँ बँधे तुम रहे ?' इस विशिष्ट संश्लेष में प्रतिक्रियाओं के स्थान पर प्रभावात्मक बिम्ब भरे हैं – 'पीना इस जहर का-भारी पग उठते कहारों के, सांझ-सुबह-दोपहर, हर वक्त अपना

ही चेहरा अनजाना क्या ?' स्वीकार के तात्पर्य से – 'जाते-जाते एक बार फिर लिख दूँ – हरी स्याही में तुम्हारा नाम' या – 'खिल-खुला कचनारी मन, दहके अनारों की बेल, साड़ी की बैगनी सलवटें आंखों की प्यास रही झेल' – या 'गरम हथेली औ' भींगे तलुबे, ऐसे ही जी उकताये से पिया चुटकी न काटो' – या फिर – 'भरेपन का जभी होता अहसास, लगता – तभी कुछ चूक गया, कुछ घटा' – इत्यादि सन्निविशिष्ट अभिव्यक्तियाँ स्वप्नाभ से विपरीत स्पष्टतः घटित हैं और जिजीविषा इनके प्रक्रम से सुपुष्ट हुई है, इसका प्रमाण भी मिलता है। यह प्रमाण है जिजीविषा के प्रति आसंग-भरी निष्ठा का आत्मनिष्ठा में रूपान्तर। पृष्ठ-77 से पृष्ठ-104 तक प्रस्तुत सारे गीतों में प्रवृत्तियों और निमित्तों के भेद से विविध स्पर्शों में कवयित्री की आत्मनिष्ठा का अभिव्यंजन हुआ है। 'राह अपनी ही चलें हम, ठहरने का क्या सवाल ?' –यह अपने कदमों पर भरोसा, उस प्रौढ़ि की देन है, जिसके आश्वस्तकारी प्रभाव से प्रकट होता है – 'पीड़ा का क्या न यह नया अर्थ, –कुंठित गौतम का बनना सिद्धार्थ ?' –और मनोदैहिक सम्बन्धों तथा आसंगों की आधुनिक और शहरू असंगति – 'तन किसी का, मन किसी का' के तात्त्विक अन्तराल में भी समय-बोध महत्वपूर्ण सम्बल बन जाता है – 'समय मेरे द्वार पर ऐसे रुका, –ज्वार पर कोई किरण का फूल।' तभी एक दैनंदिन समतोल का संकेत मिलता है – 'बाँटकर भोगें हम, बाँटकर सहें' – और व्यक्तित्व की परिधि भी पूरी हो जाती है आत्मस्वीकार में 'ग्रहों ने भटकाकर छोड़ दिए, मोह-दंश से भर गया वर्तमान। क्षण-क्षण जनम लेती दुविधाएँ, दृष्टि खोजती कहाँ आक्षेपों का समाधान ? संबंधों के नए-नए अर्थों को क्यों खोजूँ, सहजता न बँधेगी और क्षण की तरह।' शायद इसी मनोलब्धि का समर्थन पुरोवचन के बहाने किया गया है – 'यह आज की जीवन-व्यवस्था का दोष है कि आज आदमी समस्याओं से बचकर जीना चाहता है। वह अधिकाधिक सुविधाओं का भोग करना चाहता है। मैं शान्ति सुमन से सहमत हूँ – कि 'नवगीत आज एक विवशता के रूप में फूट रहा है जो नितान्त आन्तरिक एवं निजी है।' अस्तु।

●